

न बदलता माहौल

यशपाल वैद

पू

वर्ष दिनों के कटु अनुभवों की बदौलत आज मैं हर काम में तटस्थता से काम लेने में प्रयत्नशील था। महसूस कर रहा था कि जिंदगी की रफ्तार को पकड़ने के लिए व्यावहारिक बुद्धि से काम लेना ही पड़ता है। यदि न लिया जाए, जो मन में आए वही कर दिया जाए तो कई तरह की आशाओं-निराशाओं के बीच से गुजरते हुए रास्ता बनता है। आज के युग में, न जाने क्यों, ईमानदारी की बजाय घोर चालाकी का ही बोलबाला है। चालाकी करने के लिए व्यक्ति को कठोर बनना पड़ता है, बेशक ऊपर से विनम्र; किंतु इस विनम्रता का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर अंततः इस रूप में ही पड़ता है कि वह भी कठोर मन का होने पर विवश होता है। मतलब है कि कोमल भावनाओं का स्थान दिन-प्रतिदिन लुप्तप्राय होता चला जाता है। मेरा चेतन, अवचेतन सदा मुझे अपने आप में उलझाए रखता है। यही बातें आज भी हो रही हैं, कल भी हो रही थीं। अगर यही कुछ होता रहा तो जीवन की सफलता की परिभाषा पर विचार करना होगा। ऐसा ही कुछ आज चलते-फिरते, साथियों से दुआ-सलाम करते, यहाँ तक कि कक्षाओं में पढ़ाते-पढ़ाते मन में घुमड़ रहा था। एक खाली पीरियड में नर्सरी का काम देखते हुए पाया कि मंगतराम आकर कुछ सम्मानपूर्वक लहजे में बातें करने लगा है। विचित्र लगा। आज की उसकी सोच के मुताबिक कि किसी भी स्थिति को उसी रूप में ग्रहण करने की बजाय उससे भिन्न रूप में भी ग्रहण कर पाऊँगा। न इतना मन से उत्तेजित होऊँगा और न ही भावुक। इसलिए जो भी एकाउंट्स के कागज हस्ताक्षर के लिए सामने रखे, उन्हें चेकिंग करते हुए देखने लगा। मेरे



जन्म : ४ दिसंबर, १९३६ को भगोवाल, जिला—गुजरात (अब पाकिस्तान) में।
शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी. (हिंदी)।
प्रकाशन : छह कहानी-संग्रह, एक 'एकांकी संकलन' तथा एक उपन्यास। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित।
पुरस्कार : 'आस बँध गई' (कहानी-संग्रह) और 'समय के साथ-साथ' (उपन्यास) पुस्तकों पर हरियाणा साहित्य अकादमी का पुरस्कार।
संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

सामनेवाली कुरसी पर बैठा मि. मंगतराम बड़े अदब से यह काम करवा रहा था। मैं यदि सोचकर सचेत न होता तो सभी हस्ताक्षर आँख मूँदकर कर जाता। लेकिन अपने काम में किसी पर एकाएक शक नहीं करना चाहिए तो एकाएक विश्वास भी नहीं करना चाहिए। बहरहाल इन दफ्तरी बातों को मन में अधिक तूल न देकर कम दुःखी होने की कोशिश में मुझे कहाँ तक सफलता मिलती है, यह तो आनेवाला वक्त ही बता पाएगा। आदमी एक उम्र आने तक आदतों का गुलाम बन चुका होता है। मैं तो इसमें पूरी तरह से गुलाम हूँ ही। एक दूसरा कर्मचारी सोमप्रकाश अपनी शालीनता से मुझे प्रभावित करने की कोशिश कर रहा है। वह भी मंगतराम की तरह एकाउंट्स ब्रांच की फीस आमद विभाग का एकाउंटेंट है।

उसका भी थोड़ा-बहुत वास्ता मुझसे पड़ता ही रहता है। सोमप्रकाश मंगतराम से आयु में पाँच-सात वर्ष छोटा ही है, गंभीर प्रवृत्ति का दिखाई देता है, इसीलिए मेरे मन के किसी कोने में इस भाव को अंकुरित कर रहा है। काश! मंगतराम की बजाय सोमप्रकाश का सीधा

और ज्यादा संबंध रहता, तब शायद इस कुरसी पर बैठने में ख्वाहमख्वाह की टेंशन न होती। कुछ हद तक काम में रुचि बनती। दूसरा खयाल यह भी आता कि यह एक स्वाभाविक लक्षण है कि कई बार जो हमें उपलब्ध और सुलभ होता है वह अच्छा नहीं लगता और जो थोड़ा दूर होता है वह आकर्षित करता है। और कई बार स्थान बदलने पर स्थिति यानी मनःस्थिति यथावत् ही रहती है। 'दूर के ढोल सुहावने' यों सोचा जाए कि व्यक्ति की सही पहचान सीधा निकटतम संपर्क होते रहने पर ही हो पाती है। खैर, रोज की गतिविधियों और क्रियाकलाप में कोई कोना तो ऐसा होना ही चाहिए जहाँ सुख-दुःख, बेशक छलावा सुख ही हो, मिल सकता हो। इसलिए भी मुझे सोमप्रकाश का सद्व्यवहार और सम्मान रास आने लगा। इसी का प्रभाव है कि मंगतराम में कुछ सुधार के लक्षण देखने को मिले। यहाँ तक कि मंगतराम के पिट्टू भी सम्मानजनक ढंग से बोलने लगे।

मंगतराम ने बात-बात में बोलते हुए सूचना दी, "पाल साहब, अगले वर्ष कॉलेज में को-

एजुकेशन हो जाएगी। मैनेजमेंट ने निर्णय ले लिया है। पहले साइंस में, फिर भी लड़कियों की कक्षाएँ अलग।”

मंगतराम का मुझे इस ढंग से संबोधित होकर बताना उसके आत्मीय होने की कोशिश-सा लगा। सो मैंने कहा, “हाँ, मुझे भी पता चला है। चलो, यह भी नगर के लिए ठीक रहेगा। छात्राओं को मेडिकल की पढ़ाई के लिए दूर-दूर जाना पड़ता था। अब सुविधा यहीं हो जाएगी।”

“हाँ जी, प्रिंसिपल साहब ने आते ही यह करवा दिया। नगरवासियों की माँग भी तो थी। हालाँकि कुछ तो इसके पक्ष में नहीं, लेकिन आस-पास के कॉलेजों में बरसों से को-एजुकेशन है। जमाना बदल रहा है। को-एजुकेशन न होने पर आदर्श कॉलेज नाम है, होने पर भी यही नाम रहेगा।” कहकर वह हँस भी दिया।

मुझे उसकी हँसी तो अच्छी नहीं लगी, लेकिन उसका व्यंग्य कुछ ठीक लगा। कहा, “भाई, समय बदल रहा है। कुछ मूल्य बदल रहे हैं। आर्यसमाज की संस्थाओं ने भी आधुनिक सहशिक्षा को अपनाना अब स्वीकार कर लिया है। यही सोचकर कि शायद स्वामी दयानंद आज होते तो वह भी शिक्षा-पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन की गुंजाइश मानते।”

“लकीर का फकीर नहीं होना चाहिए, सर।” मंगतराम की इस टिप्पणी में कुछ, न जाने क्यों मुझे किसी कटाक्ष की बू-सी आई।

“हाँ भाई, यह तो है।” मैंने वार्तालाप को यहीं विराम देना चाहा।

“प्रिंसिपल को बधाई दे दें।”

मंगतराम के इस सुझाव को मैंने हँसी-मुसकराहट में टालना उपयुक्त समझा। इसी के साथ मैं उठ बैठा। मंगतराम अपने सभी कागज, बाउचर वगैरह उठाकर चल दिया। हमारे इस वार्तालाप से, शायद, प्रेरित होकर अन्य कर्मचारी भी इसी विषय को लेकर आपस में गुप्तगू करने लगे।

बाहर आने पर श्रीमान् श्रीवास्तव सामने

मिल गए।

“कैसे हैं, पाल साहब? कुछ हुआ उस बात का? दरअसल यह तो बड़ी इंसल्ट है हमारी; हम लोगों की।” श्रीवास्तव ने यह कहकर एक बार फिर मुझे उत्तेजित करना चाहा और कुछ जानना भी चाहा।

“सोचेंगे। अब हमें क्या करना चाहिए, आपसे परामर्श लेंगे। वैसे प्रिंसिपल के कानों में अपनी नाराजगी डाल दी है।” इतना कहकर मैं सारे प्रसंग को टाल गया।

श्रीवास्तव जैसे लोग स्वयं को किंगमेकर समझते थे, इसलिए उनकी किसी बात को सरसरी तौर पर लेकर टाल जाना आसान काम नहीं था। वह अपनी हैसियत को बरकरार रखने के लिए हर तरह के दाँव-पेंच खेल सकते थे। इसलिए मुझे कहीं लगा कि सपाट बोलना ठीक नहीं था। श्रीवास्तव और अपने विभागाध्यक्ष सोमी साहब बनाम गुप्तजी में बहुत अंतर है। गुप्तजी, कभी भी, बावजूद मेरी ओर से उनकी समय-समय पर अवहेलना और कभी-कभार गुस्ताखी होने पर भी वह मेरे शुभचिंतक बने रह सकते हैं। उनकी गोपनीयता ही उनके विरुद्ध जा सकती है, फिर भी आपसी संबंधों में सौहार्द जैसा भाव सदा बना रहता था; जबकि श्रीवास्तव की बोलने की मिठास न जाने कब कड़वाहट में बदलकर किसी को भी चित और चौपट कर जाए। इसलिए थोड़ा स्टाफ रूम की ओर बढ़कर मैं फिर धूप में खड़े श्रीवास्तव के पास आ गया, जहाँ वह एक कोने में सिगरेट सुलगाए खड़े थे।

“हाँ, तो पाल भाई, कैसी चल रही है बर्सरी। कोई दिक्कत हो, कोई अड़चन हो तो हमें बताइए। आखिर हम भी किसी मर्ज की दवा हो सकते हैं।”

“अरे श्रीवास्तवजी, सब ठीक-ठाक है। हर छोटी-बड़ी अड़चन आपके जिम्मे डाल दी तो हमारी निजी प्रतिभा कैसे विकसित होगी? कुछ तो हमपर भरोसा रखकर छोड़ दिया कीजिए।”

श्रीवास्तव ने ठहाका लगाया। बोला, “पाल साहब, आपने तो आज कमाल की बात

कर दी। हम तो मर मिटे आपकी इस लपफाजी पर। क्या दम-खम है! अब हमें कोई चिंता नहीं।” इतना कहते हुए श्रीवास्तव ने पास ही थूका और सिगरेट के टुकड़े को पीछे दीवार के साथ पाँव से मसल दिया। तभी दो-चार सहयोगी, जिनमें भौतिकी के आलूवालिया साहब भी थे, पास आ खड़े हुए।

“क्या गुप्तगू हो रही है?” आलूवालिया साहब ने पूछा।

आलूवालिया हम दोनों से न केवल आयु में बल्कि सर्विस में भी सीनियर थे। उनके व्यक्तित्व को लेकर कोई विवादास्पद राय न थी। वे सरल, सज्जन और ईमानदार थे। जो मन में आया, बिना किसी दुराव, छल-कपट के कह दिया। इसी वजह से जहाँ एक तरफ उनका आदर-सम्मान होता था वहीं कभी-कभी इसी गुण के कारण उन्हें अपमान और उपेक्षा की स्थिति से भी गुजरना पड़ता। यही स्थिति कभी-कभार उनके अस्तित्व को असमंजस में डाल देती थी, उनके मोटापे और गंजेपन पर प्रश्नचिह्न ला खड़ा करती थी। वैसे वह अपने विभाग के सहयोगियों से कम परेशान नहीं, जो आएदिन आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण उनका उल्लू बनाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। घोर अपमान को पी जाने के अलावा उन्हें कोई दूसरा चारा दिखाई नहीं देता। इसलिए बहुत बार उनके किसी भी वार्तालाप में संलग्न होने की चेष्टा को अनदेखा-अनसुना कर दिया जाता है। मेरे मन में उनके प्रति न केवल आदर भाव बल्कि स्नेह भाव भी है; क्योंकि जब मैं नया-नया यहाँ आया, कॉलेज में ही एक स्टोरनुमा कमरे में रात काटता हुआ किसी किराए के मकान की तलाश थी कि जल्द ही परिवार ला सकूँ। उस समय प्रिंसिपल संतोषराज की मुझपर अथाह कृपा थी। श्री आलूवालिया ही ऐसे सज्जन पुरुष थे जो मुझे साथ लेकर आस-पास की कॉलोनिनों में मकान तलाशने में मदद करते रहे। यही नहीं, बल्कि कॉलेज के माहौल के बारे में भी लाभकारी जानकारी देते रहे। अब भला श्रीवास्तव उनकी उपेक्षा करे, मैं

क्योंकर करूँ ?

इसलिए श्रीवास्तव के वहाँ से निकलते ही मैंने कहा, “आपकी फेकेल्टी यानी साइंस में को-एजुकेशन होने जा रही है। यह तो अच्छा है।”

“श्रीवास्तव जैसों के पौ बारह होंगे।” वह अपने भोलेपन में बोल गए।

मैं कुछ हकबकाया-सा उनकी तरफ देखने लगा तो आलूवालिया साहब बोले, “अरे पाल साहब, इतने भोले भी न बनिए। आप इस श्रीवास्तव की करतूतों से वाकिफ हैं! पूरा छलिया है। संतोषराजजी ने एम.ए. इंग्लिश शुरू भी कराई और जल्द बंद भी करा दी। वहाँ एम.ए. में को-एजुकेशन रखना यूनिवर्सिटी के नियमों के तहत जरूरी था। करतूतें इन्हीं लोगों की थीं। चलिए छोड़िए।” वह हँसते-हँसाते चुप हो गए।

“बड़ी दूर की सोचते हैं आप।” मैंने कहा।

“मैंने क्या सोचना, ऐसी ही चहलगोयियाँ चल रही हैं स्टाफ रूम में। आप तो बर्सर क्या हुए स्टाफ रूम का जायजा लेना ही छोड़ दिया।”

“नहीं, ऐसी बात नहीं है।” मैंने कहा।

“नहीं, बात तो है। मधुर से पूछिए। भाई लोग क्या मजे ले-लेकर चुस्कियाँ लेते हैं! श्रीवास्तव खुद बेसिर-पैर की हाँकता है। आदत से मजबूर है। अपने यह नए प्रिंसिपल विशिष्ट साहब तो अभी रहस्य ही बने हुए हैं। आपात स्थिति है, इसलिए कुछ दबे स्वर में बातें होती हैं, लेकिन होती जरूर हैं।”

“सच, आलूवालिया साहब, मैं तो इस श्रीवास्तव की मीठी-मीठी बातों में आ ही जाता हूँ। अपनत्व ऐसा जतलाता है कि अविश्वास की बजाय स्नेह उमड़ता है।”

“इसमें आपका कसूर नहीं। उसमें आर्ट है। आपको बर्सर बनाने में उसका रोल है। आदमी इतना बुरा भी नहीं। कुछ होता रहे, कुछ करता रहे नया, बस यही उसका शगल है। कई बार सबको रास भी नहीं आता। बस, जरा चौकस रहना चाहिए, बाकी तो...” ऐसा कहते हुए वह मुझसे अलग हुए।

आलूवालिया साहब के जाने के बाद मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि यह आलूवालिया साहब भी मन के सरल-सच्चे इंसान हैं, इसीलिए किसी को भी दो-टूक बुरा कहने से गुरेज करते हैं। हो सकता है, कुछ मेरी तरह डरपोक भी हों। दूसरा खयाल आया कि अगर बारीकी से देखा जाए तो यह आर.सी. श्रीवास्तव रसिया तो है और कुछ-कुछ सुंदरियों का शौकीन। हो भी क्यों न, अच्छा व्यक्तित्व है। ऊँचा कद, मीठी आवाज, कन्हैया की तरह छैल-छबीला साँवरा। नारी आकर्षित हो सकती है। इसलिए तो कुछ सच्चे, कुछ झूठे किस्से जुड़ने की संभावना सदा बनी रहती है। कुछ तो होंगे ही, कुछ यह भाई यों ही उछाल देता है। पता ही नहीं चलता, क्या सच है, क्या झूठ। इसी सच-झूठ की गुंजल में फँसकर प्राचार्य संतोषराज ने श्रीवास्तव के पूर्व विवाहित होने और बच्चे के पिता होने का दावा किया और नए प्रेम-विवाह के लिए बाधा उत्पन्न करनी चाही; लेकिन वह एक पूर्वनियोजित भ्रम पैदा करने का इसी का, निज का हथकंडा था। संतोषराजजी और उनके हिमायतियों को मुँह की खानी पड़ी। मजा पैदा करना, मजा लेना, यह उसके दिमाग का खलल या फितूर बना रहता है। सारे माहौल में एक माहौल पैदा करने के लिए यह नई-पुरानी मनगढ़ंत बातों को जोड़ देता है। कोई इसे सच मानकर उसे गुप्त रूप से संबंधित व्यक्तियों तक पहुँचाता है और यह अंततः बेसिर-पैर का प्रवचन सिद्ध होता है। इसलिए इस व्यक्ति से बचकर भी और तटस्थता से जुड़कर भी रहना चाहिए। मजा आता रहेगा। यह भी कि पूरी ईमानदारी से इसके साथ जुड़ा रहा जाए तो दूसरे इसी के साथियों से यह बेहतर साबित होगा। इसी तरह सोचते-सोचते कुछ छात्रों का अभिवादन स्वीकार करते हुए स्टाफ रूम पहुँचा तो देखा, वहाँ मधुर और जयरतन साथ-साथ बैठे हैं।

मुझे देखते ही मधुर ने कटाक्ष किया, “भाई, पाल साहब! अब आप बहुत बड़े अफसर हो गए हैं। हमसे मिलने का वक्त ही नहीं मिलता।”

“अरे, ऐसा क्योंकर सोचते हो? तुम भी तो देखभाल सकते थे कि किस हाल में हूँ।” मैंने अधिकार जमाना चाहा।

“बड़े अच्छे जम रहे हो। पूरे प्राचार्य लग रहे हो।” मधुर ने ही कहा।

हँसते-हँसते जयरतन ने जोड़ा, “लेखक-वेखक नहीं, प्राचार्यनुमा व्यक्ति।”

“कैसे? प्राचार्य मक्खनलाल जैसे या संतोषराजजी जैसे?” मैंने कहा।

“भाई, अपने आपको इतना भी न गिराओ और इतना भी न उठाओ।” मधुर हँसी की फुहार के साथ बोला।

मैं मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था कि मक्खनलाल इनकी नजर में गिरावट और संतोषराज आदर्श का प्रतीक हो सकते हैं।

उनके पास ही बैठ गया। इस बीच एक-दो सहयोगी आए और गए। हम तीनों की ओर देखकर कुछ संतुष्टि भाव से मुसकराए भी। हमें समझने पर अच्छा लगा।

“कैसे चल रहा है?” मैंने पूछा।

“कुछ अच्छा नहीं। ऐसी कक्षाएँ थमा दी हैं जिनमें घनचक्करों की भरमार है। ऊत किस्म के छोकरे, बात-बात में हँसी, बात-बात पर बोलना। पुस्तकें पास नहीं। सिर खपाने और तंग करने के अलावा कोई काम नहीं।”

“और तुम भाई, जयरतन?”

जयरतन एकाएक आवेश में आकर बोला, “आप तो ऐसे पूछ रहे हैं जैसे सचमुच के प्रिंसिपल हो गए हों। अपनी निभेड़ो।”

हम दोनों ने देखा कि यह आवेश आवेश ही है। इस व्यक्ति का कई बार पता नहीं लगता। पल तोला, पल मासा। मैं जानता था कि इस आवेश के पीछे कोई-न-कोई ग्रंथि रहती है और यह आवेश भी क्षणिक है। इसलिए ऐसे अवसर पर एकाएक चुप्पी साध लेने में अनुकूल प्रभाव पड़ता है। जयरतन को सोचने का वक्त मिल जाता है कि गुस्से में आ जाना उसकी भूल थी। □

२०३, विवेक विहार, सिविल लाइन,
अंबाला शहर-१३४००३